

○.....
 यह आलेख शिक्षक के स्वयं के एवं व्यवस्था के बारे में सजग चिन्तन (रिफ्लेक्शन) का बयान है कि सीखने-सिखाने की अन्योन्याश्रित प्रक्रिया में किस प्रकार के आरोह-अवरोह आते हैं, कि स्वयं की शिक्षा के अनुभव एवं वैचारिक आस्था प्रतिकूल परिस्थितियों में कैसे दृष्टि प्रदान करते हैं ? सही मायने में शिक्षाकर्म में रत हाने के पश्चात् ही शिक्षा का सही अर्थ उद्घाटित होता है। यह अनुभव आशा जगाता है कि 'जड़' कहे जाने वाले शिक्षा तंत्र में स्व-प्रयासों से बेहतर राह बनायी जा सकती है। ये अनुभव हैं बैंगलोर की शिक्षिका के.टी. मारग्रेट के। यह मूल लेख का अनुवाद है।
 ○.....

शिक्षा- मेरी नजर में

□ के. टी. मारग्रेट

शिक्षा केवल 'मेरे' द्वारा पढ़ाना और 'आपके' द्वारा ग्रहण करना नहीं है बल्कि यह एक विकास की प्रक्रिया है जो शिक्षक और शिष्य दोनों में चलती है। शिक्षण प्रक्रिया की जटिल समग्रता में तीन कारक शामिल हैं - संबंध, अध्यात्मिकता और कर्म। विकास से मेरा मतलब मुक्ति की एक क्रमिक प्रक्रिया से है। जिसमें बच्चे की आंतरिकता बाहरी दुनिया के साथ संबंध स्थापित करती है। मेरे लिए शिक्षा न तो एक वैयक्तिक प्रक्रिया है और न ही ऐसी प्रक्रिया जिसमें बाहरी दुनिया का प्रभाव व्यक्ति को दबा ही डाले। बल्कि यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है और इस प्रक्रिया में व्यक्ति के रोजमर्रा के जीवन में होने वाली सभी घटनाएं महत्वपूर्ण हैं। यह, जैसा कि जॉन डीवी कहते हैं, अनुभव के निरंतर पुनर्निर्माण के द्वारा जीने की प्रक्रिया है।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए मैं अपने शिक्षण के वर्षों के अनुभवों और उन घटनाओं को याद करने की कोशिश करूंगी जिन्होंने शिक्षा को विकास के लचीले और मनोरंजक प्रक्रिया के रूप में समझने में मेरी मदद की। ये अनुभव अनेक प्रकार के हैं जिनमें आनन्द, खोज, आश्चर्य और संतुष्टि के साथ ही साथ असफलता और गहन निराशा के क्षण भी हैं। पलट कर देखने पर मैं महसूस करती हूँ कि प्रत्येक अनुभव (ऐसे अनुभव भी जो उस समय नकारात्मक प्रतीत होते थे) ने शिक्षा की मेरी समझ को गहरा करने में और एक व्यक्ति के रूप में मेरे विकास में सकारात्मक भूमिका निभाई।

अपने छात्र जीवन में शिक्षा के प्रति मेरे मन में बहुत नकारात्मक छवि थी। शिक्षक एक ऐसा व्यक्ति था जो प्रत्येक चीज के बारे में जानता था, जो बच्चों के ऊपर नियंत्रण रखता था और

बच्चों को अपने विचारों के अनुसार ढालने की कोशिश करता था। शिक्षक नैतिक नियमों का उपदेश देता था तथा वह उन लोगों को दण्डित कर सकता था जो उन नियमों का उल्लंघन करते थे। वह मुख्य रूप से एक ऐसा व्यक्ति था जो सत्ता का प्रतिनिधित्व करता था। अपने शिक्षक जीवन के प्रारंभिक दिनों में मैं भी इसी प्रकार की थी।

जब मैं एक स्कूल में छात्रा थी, स्कूली शिक्षा अवैयक्तिक थी और जिसमें विभिन्न विषयों को सीखना शामिल था। मैं अपने विचार और भावनाएं व्यक्त करने, स्वतंत्र रूप से सोचने और दूसरों से ईमानदारीपूर्वक संवाद स्थापित करने में डरती थी। जो कुछ पढ़ाया जाता था, मुझे उसे ग्रहण करना होता था और किसी व्यक्ति, घटना और विषय पर अपने विरोधी विचारों और भावनाओं को अपने तक सीमित रखना होता था। चीजों के बारे में मेरे अपने विचार थे जो कि प्रायः नकारात्मक थे। ऊपरी तौर से मैं प्रसन्न और विनम्र बने रहने की कोशिश करती थी। बाद में परिस्थितियों ने मुझे अध्यापन हेतु विवश किया, यद्यपि मैं एक शिक्षक की नौकरी को पसंद नहीं करती थी।

अपने बी. एड. के अध्ययन के दौरान मैं शिक्षाशास्त्रियों द्वारा शिक्षा के संबंध में विकसित अनेक विचारों से प्रभावित हुई। लैटिन शब्द 'Educere' से उत्पन्न शिक्षा की परिभाषा मेरे लिए बहुत महत्वपूर्ण है। महात्मा गांधी ने भी इसी से मिलती जुलती एक बात कही थी कि शिक्षा से मेरा मतलब बच्चे और व्यक्ति के शरीर, मस्तिष्क तथा आत्मा में जो भी सबसे बेहतर है, उसे बाहर लाने से है (अर्थात् बाहर लाना या आगे ले जाना)।

किसी व्यक्ति में वह आंतरिक तत्व क्या है, जिसे बाहर लाया

व्यक्ति के 'अंतर' को खोलने की प्रक्रिया के रूप में शिक्षा को देश-काल, आंतरिक अनुशासन, संयम और अध्यवसाय की जरूरत होती है। इसमें से किसी को भी दिखलाया नहीं जा सकता। मेरे कहने का अर्थ यह है कि हममें से कोई जब किसी एक स्कूल जैसे कि; तिलक नगर चिल्ड्रेन सेन्टर में जाता है तो उन्हें वहां पर कुछ अलग हट कर नजर नहीं आएगा। वे वहां पर बच्चों को पढ़ते, खेलते, काम करते और लड़ते हुए देखेंगे जैसे वे दूसरे स्कूलों में देखते हैं। लेकिन तिस पर भी वहां एक अदृश्य परिवर्तन हो रहा है।

हाई स्कूल के एक विज्ञान और गणित के अध्यापक के रूप में मैंने अपनी कक्षाओं में मुख्यतः इस बात पर ध्यान दिया कि बच्चों की क्षमताएं क्या हैं और उन्हें ज्यादा बेहतर बनाने के लिए मैं उनकी क्या मदद कर सकती हूँ? अध्यापन के दौरान मैंने उन सभी समस्याओं का सामना किया जिनका आमतौर पर कोई भी अध्यापक किसी भी कक्षा में करता है। उनमें से कुछ समस्याएं किसी की भी ऊर्जा को समाप्त करने और विषय के प्रति न्याय करने में कठिनाइयां पैदा कराने वाली हैं।

मेरी कक्षा में सभी तरह के बच्चे थे - वे जिनकी पाठ में कोई रुचि नहीं थी, ऐसे बच्चे जो अपना समय दिन में सपने देखने में व्यतीत करते थे। कुछ ऐसे भी थे जो लगातार या तो बातें करते थे अथवा कक्षा में घूमते हुए कागज के पुर्जे इधर-उधर करने में लगे रहते थे। उनमें से कुछ बच्चे तो लगातार अपने बक्से और मेज खड़काकर कक्षा में व्यवधान पैदा करते थे। मैं ऐसे बच्चों को एकदम नापसंद करती थी। उनमें से बहुत कम बच्चे ऐसे थे जो पाठ में रुचि रखते थे तथा मेरे अध्यापन के प्रति सचेत थे। इन बच्चों को मैं पसंद करती थी तथा उन पर ध्यान देती थी, लेकिन इसके बावजूद मैं कुछ अच्छा महसूस नहीं करती थी। मुझे लगा कि उन बच्चों को पता था कि मैं उनसे कुछ अपेक्षाएं रखती हूँ और वे जानबूझ कर ऐसा व्यवहार कर रहे हैं जिससे मुझे खुश कर सकें। दूसरे शब्दों में कहूँ तो वे बच्चे जिन्हें मैं नापसंद करती थी, उनमें भी इस बात की इच्छा थी कि उनकी गलतियों को भूलकर उन्हें स्वीकार किया जाए।

पूरी तरह से तैयार तथा आकर्षक पाठ भी मेरी कक्षा के अधिकतर बच्चों में पढ़ाई के प्रति रुचि को जागृत न कर सका। उनमें से अधिकतर बच्चे स्कूल में इसलिए थे क्योंकि वे वहां थे, इसलिए नहीं कि वे कुछ सीखना चाहते थे। स्वयं को पूरी तरह से असहाय महसूस करते हुए मेरी पहली प्रतिक्रिया उन्हें दण्डित करने की थी। तब मैंने महसूस किया कि बच्चों के साथ मैं ठीक उसी तरह से व्यवहार कर रही हूँ, जैसा कि मेरे अध्यापक मेरे साथ करते थे। अपनी ट्रेनिंग के समय मुझमें शिक्षा के बारे में जो व्यापक समझ

बनी थी वह अनुभव से खत्म होती जा रही थी।

मेरे अध्यापकीय जीवन का पहला झटका मुझे एक ऐसी साधारण घटना के द्वारा लगा जो किसी भी अध्यापक के जीवन में घट सकती है। एक बार मुझे आठवीं कक्षा के बच्चों को तमिल पढ़ाने के लिए कहा गया। मेरी पहली प्रतिक्रिया यही थी कि तमिल मेरा विषय नहीं है और न ही मैं उसे पढ़ाने की पद्धति से परिचित हूँ। लेकिन किसी चीज ने मुझे ऐसा करने से रोका। कुछ कारणों से मैंने महसूस किया कि कार्यभार को स्वीकार करना ठीक था। बच्चे 12 - 14 साल की उम्र के बीच के थे। विषय के बारे में मुझे बहुत कम ज्ञान था। पाठ की तैयारी के लिए मैंने अनेक किताबों की सहायता ली थी। कक्षा में घुसते हुए मैं नर्वस थी और कांप रही थी। मैंने अपने भय को छिपाने की कोशिश की और बहादुरी से पढ़ाने का ढोंग शुरू किया लेकिन ऐसा देर तक न चल सका। अंततः मैंने बच्चों को साफ तौर पर वास्तविक स्थिति बता दी।

उनकी प्रतिक्रिया आश्चर्यजनक थी। उन्होंने मेरी आशंका के विपरीत असाधारण समझ का परिचय दिया। उन्होंने स्वीकार किया कि अध्यापकों द्वारा पाठ को पढ़कर फिर उसकी व्याख्या करना उनको भी पसंद नहीं है। उन्होंने मेरी और साथ ही साथ अपनी समस्या को दूर करने का एक सुझाव दिया।

हमने तय किया हम मिलकर पाठ्यपुस्तक में से किसी एक कहानी को चुनेंगे और उसको घर पर पढ़ेंगे तथा अगले दिन कक्षा में उसका अभिनय करेंगे। हमने ऐसा ही किया और इसका परिणाम यह हुआ कि हम सबने पाठ का अच्छी तरह से आनन्द उठाया। कथा के चरित्रों के साथ खुद को जोड़कर हमने महसूस किया कि पाठ में जीवन और अर्थ भरा हुआ है। यह अध्यापक पाठ्यपुस्तक में निर्धारित पाठ न होकर एक आनन्दप्रद कहानी में बदल गया। इस घटना के परिणामस्वरूप विषय में बच्चों की रुचि और भी बढ़ी तथा अध्यापक और छात्र दोनों ही अगली कक्षाओं के प्रति उत्सुक हो गये।

इसके बाद बच्चों ने पाठ्यक्रम की अधिकतर कहानियों को घर पर पढ़ना शुरू कर दिया। अतः कक्षा में कहानियों को पढ़ने तथा उनकी व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं रही। हालांकि मैंने पाठ्यक्रम की औपचारिकताओं को भी कक्षा में पूरा किया लेकिन हमने अपना अधिकांश समय पाठ की चर्चा और दूसरी किताबों के अध्ययन में लगाया। हमारे पास शंकाओं को सुलझाने और अपनी भावनाओं और विचारों को व्यक्त करने का समय था। इस प्रकार अध्यापक और छात्र के बीच में एक नये प्रकार का संबंध विकसित हुआ। कक्षा का वातावरण मैत्रीपूर्ण और खुशनुमा था

और दोनों तरफ से एक-दूसरे पर विश्वास था। मैं इस बात से आश्चर्यचकित थी कि बच्चे मेरे पढ़ाने के तरीकों की सकारात्मक समीक्षा कर सकते थे और ऐसा करते समय मेरे प्रति उनका सम्मान और लगाव भी बना रहता था। कक्षा में बेहतर अनुशासन और सीखने की प्रेरणा थी इसलिए हम कुछ रचनात्मक लेखन करने में भी सक्षम थे। मैं कक्षा के खुशनुमा माहौल से प्रसन्न थी। निश्चित तौर पर कक्षा में शोर और दौड़ भाग हुआ करती थी लेकिन वह ध्यान भंग करने वाली नहीं थी।

इस अनुभव ने मुझे मेरे बारे में कुछ चीजें सिखाईं, साथ ही साथ यह भी कि किस प्रकार दूसरे बच्चों को अन्य विषय पढ़ाये जाएं। मैंने बहुत राहत महसूस की। कक्षा का सामना करने का मेरा भय गायब हो गया और मैंने आत्म-विश्वास महसूस किया। साथ ही मैंने अपने व्यवहार के दुचित्तेपन को भी महसूस किया और मुझे बच्चों के प्रति किये गये अपने असंगत व्यवहार का भी ज्ञान हुआ।

इस अनुभव की दूसरी सकारात्मक उपलब्धि नवीं में विज्ञान की कक्षा में देखने को मिली। छात्रों ने बड़ी रुचि के साथ स्कूल की विज्ञान प्रयोगशाला में प्रयोग करना आरंभ कर दिया। वे अपने प्रयोग स्वयं संचालित करते थे। इस कार्य में उनकी रुचि इतनी बढ़ी कि उपकरणों को व्यवस्थित करने के लिए वे जल्दी स्कूल आने लगे। उनमें से कुछ बच्चे विज्ञान के सरल प्रयोग अपने घर पर करने की कोशिश करते थे और पूरी कक्षा के साथ अपने अनुभव बांटते थे। वे विज्ञान के पुस्तकालय का प्रयोग संदर्भ कार्य के लिए करते थे। जल्दी ही हमने एक विज्ञान क्लब बनाने का फैसला किया। क्लब बहुत उत्साह के साथ खोला गया परन्तु बाद में इसे रोकना पड़ा क्योंकि इससे उन अध्यापकों को परेशानी होने लगी जो नवीं की दूसरी कक्षाओं में विज्ञान पढ़ाया करती थीं। हमसे कहा गया कि हम अपने आपको पाठ्यपुस्तकों तक सीमित रखें। दुर्भाग्य से उस समय मेरे पास इतना साहस नहीं था कि मैं शिक्षा के अपने नजरिये के बारे में अपने वरिष्ठ अध्यापक साथियों से बहस कर पाती। इस तरह हमारा प्रयोग समय से पहले ही समाप्त हो गया।

तीसरा फायदा यह हुआ कि मैंने बच्चों के व्यवहार का अधिक गहराई से निरीक्षण करना प्रारंभ किया और मुझमें उनकी बातों को ध्यानपूर्वक सुनने की रुचि पैदा हुई। अपनी व्यक्तिगत रुचियों को व्यक्त करने के लिए जिन चीजों के बारे में वे बातें करते थे, मैं उन्हें

महसूस करती थी लेकिन फिर भी मैं उन चीजों का आपस में संबंध स्थापित नहीं कर पाती थी। दसवीं कक्षा के विद्यार्थी मुझसे सामान्य किस्म की छोटी-छोटी बातें करते थे। पहले हमारी बातचीत बहुत सांसारिक किस्म की होती थी। वे मेरे बारे में पूछते और अपने बारे में बताते। धीरे-धीरे इन बातों ने सवालियों का रूप ले लिया जो कि धर्म, नैतिकता, परंपरा, नियमों और सत्ता की आज्ञाकारिता के प्रति मेरे रुझान को जानने के लिए पूछी जाती थीं। बच्चे भी इन सब बातों पर अपनी राय व्यक्त करते थे। पहले मैं अपने विचारों और भावनाओं को उनके सामने प्रकट करने से हिचकती थी। मैंने उन्हें अस्पष्ट उत्तर दिये या फिर अक्सर चुप रही। मैंने सोचा जब वे अपने प्रश्नों के उत्तर स्वयं देने लगेंगे तब मैं स्वयं को मुक्त समझूंगी और उन्होंने जो बातें कही हैं उन पर कोई टिप्पणी करने से बचूंगी।

○

कक्षा एक चुनौती के समान है और यह बात कोई मायने नहीं रखती कि शिक्षक के तौर पर हम कितने पारंगत हैं। वे लोग जो छात्रों को शिक्षित करने का बीड़ा उठाते हैं उन्हें पहले खुद अपने को शिक्षा से रूबरू कराना होगा। जब तक हम यह नहीं करते, हम शिक्षा के वास्तविक अर्थ को नहीं समझ सकते।

○

मैं एक दूसरी घटना का जिक्र करना चाहूंगी जिसके कारण बच्चों के साथ मेरे संबंध और भी बेहतर हुए। एक कक्षा में बच्चों में बीजगणित के प्रति रुचि जगाने के लिए मैंने एक छोटा प्रयोग किया। हम बीजगणित के बारे में बातें करते थे और यह जानने की कोशिश करते थे कि इस विषय में अंकों के प्रतीकों का क्या महत्त्व होता है। हम बीजगणित से संबंधित खेल खेलते थे और इन खेलों के द्वारा छोटे-छोटे जोड़ बनाते थे। धीरे-धीरे इससे बच्चे विषय के प्रति प्रेरित हुए और उन्होंने इसमें रुचि लेना शुरू कर दिया। मैं उनकी प्रगति से संतुष्ट

थी, लेकिन मैंने आने वाली समस्याओं की तरफ ध्यान नहीं दिया। जब इन बच्चों ने दूसरे सेक्शन में पढ़ने वाले बच्चों से अपनी तुलना की तो उन्होंने पाया कि दूसरे बच्चों ने पहले तिमाही इम्तिहानों के लिए अपनी पाठ्यपुस्तक का अभ्यास कर लिया है जबकि मेरी कक्षा के बच्चों ने अभी तक पाठ्यपुस्तकें खोली तक न थीं।

इस संबंध में आपस में बातचीत करके मेरी कक्षा के बच्चे परेशान हो गये। उन बच्चों को दूसरे सेक्शन के बच्चों ने सलाह दी कि वे किसी दूसरे अध्यापक के लिए प्रधानाचार्य से बात करें। इस समस्या के बारे में मुझे तब पता चला जब प्रधानाचार्य ने मुझे बातचीत के लिए बुलाया। मैंने प्रधानाचार्य से कहा कि वे पहली त्रैमासिक परीक्षा के लिए मुझे अपनी तरह से पेपर बनाने की आज्ञा दें। जबकि मुख्य परीक्षा के लिए एक जैसा पेपर बनाया जा सकता है। यद्यपि मैं अंदर से बहुत दुखी थी लेकिन कक्षा में जाकर मैंने ऐसा प्रदर्शित किया जैसे कुछ हुआ ही न हो। बच्चों ने भी ऐसा ही

दिखावा किया। इसके बाद पाठ्यक्रम में दिए गए अभ्यास के अनुसार बीज गणित की कक्षाएं चलने लगीं। संयोग से मेरी कक्षा के बच्चों ने मुख्य परीक्षा में अच्छा प्रदर्शन किया और बीजगणित विषय के प्रति उनकी रुचि भी बढ़ी। फिर भी इस अनुभव में मुझे बड़े स्तर पर, जहाँ सिर्फ मेरी ही कक्षा नहीं थी, सोचने के लिए मजबूर किया।

वर्तमान शिक्षा हमें क्या देती है ?

एक शिक्षक के रूप में एक वर्ष बिताने के बाद मैंने महसूस किया कि यह शैक्षिक ढांचा कुछ खास तरह के अपरिवर्तनीय मूल्यों और प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करता है। जीवन्त और मेधावी बच्चों की प्रतिभा स्कूल के शिथिल और निष्प्राण माहौल में पनप नहीं पाती थी। उन्हें स्वयं को पहचानने की बेहद जरूरत थी और इसके लिए समय और स्थान के साथ-साथ समझ और स्वीकृति की भी आवश्यकता थी। वे स्वयं को व्यक्त करना चाहते थे लेकिन इसके लिए उनके पाठ्यक्रम में कोई जगह नहीं थी।

स्कूलों में विभिन्न विषय के लिए पाठ्यपुस्तकें निर्धारित थीं तथा ये सभी पुस्तकें सूचनाओं से भरी थीं। इन पुस्तकों का चयन और लेखन उन वयस्कों द्वारा किया गया था जो महसूस करते थे कि जो ज्ञान वे बच्चों को उपलब्ध करवा रहे हैं, उनके द्वारा सफलतापूर्वक बच्चों को सफल वयस्कों में बदला जा सकता है। इन पाठ्यपुस्तकों की योजना समिति की कुछ बैठकों में मुझे ऐसे वयस्कों के साथ शामिल होने का अवसर मिला जिन्हें बच्चों को पढ़ाने का कोई अनुभव नहीं था और वे उन प्रसंगों की सूची बना रहे थे जो उनके हिसाब से महत्वपूर्ण थे। इन चर्चाओं में बच्चों की रुचि और आवश्यकताओं के बारे में कोई बातचीत नहीं होती थी। चीजों को ग्रहण करने तथा उनको अपने जीवन के अनुकूल बनाने की बच्चों की क्षमता पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। ऐसा लगता था कि यह वयस्कों की जिम्मेदारी है कि वे बच्चों को बताएं कि उन्हें अपने विकास के लिए किस चीज की आवश्यकता है। वे मानते थे कि बच्चे इस बारे में खुद कुछ नहीं जानते। पाठ्यपुस्तकों के बाद वह कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया जिसके तहत ज्ञान को पाठ्यपुस्तकों में पंक्तिबद्ध तरीके से रखा गया था। बच्चों को हर महीने और हर साल कितना ज्ञान दिया जाना है, इसे मापा गया। विषयों के चयन और ज्ञान के इस मात्रात्मक विभाजन में बच्चों की समझ की क्षमताओं की अनदेखी की गई।

हर साल के कार्यक्रम को उद्देश्य और लक्ष्य के साथ एक साफ-सुथरे प्रारूप में रख दिया गया। इन सभी चीजों को एक क्रमागत बक्से, जिसे पाठ्यक्रम कहते हैं, में बंद कर दिया गया।

वास्तव में, ज्ञान को ऐसी ही तीन पेटियों में बन्द किया गया। ये पेटियाँ 4, 3 और 3 वर्षों की थीं यानी दसवें साल के अंत में, जब बच्चा एक नया तुला और व्यवस्थित ज्ञान पा चुका होता है। ऐसा विश्वास किया गया कि बच्चा ज्ञानी और सुदृढ़ व्यक्तित्व के साथ इस व्यवस्था से निकलेगा। तीस वर्ष पहले ऐसी ही स्थिति थी और कमोबेश आज तक है।

इस सब के साथ एक समय सारिणी भी थी जिसने पूरे ढाँचे को इस तरह कस कर बांध दिया कि किसी प्रकार के लचीलेपन की कोई गुंजाइश नहीं रही। बच्चे या शिक्षक किसी के पास इतना समय नहीं रहा कि वह किसी तरह का कोई बदलाव कर सके। प्रत्येक चालीस मिनट के लिए दैनिक पाठ योजना तैयार की जाती थी, ऐसा अध्यापक द्वारा वर्ष के अंत तक पाठ्यक्रम पूरा करने के उद्देश्य से किया गया था। इस प्रकार अध्यापक का पूरा समय पाठ्यक्रम को पूरा करने में ही लग जाता था और धीरे-धीरे यही मुख्य ध्येय बन जाता था। पाठ्यक्रम को पूरा करके अध्यापक को एक प्रकार की संतुष्टि और उपलब्धि का अहसास होता था और अध्यापक को इस बात की जरा भी चिंता नहीं होती थी कि उसे अपने पढ़ाने के तरीके में कुछ बदलाव लाना चाहिए। अध्यापक के पास बच्चों को व्यक्तिगत रूप से जानने का समय नहीं बचता था।

इस प्रकार के शिक्षा प्राप्त करने वालों के बारे में क्या कहना ? बच्चों को जो भी कहा जाता है उसे उन्हें ग्रहण करना पड़ता है, बिना यह जाने कि वे क्या पढ़ना चाहते हैं और कैसे पढ़ना चाहते हैं ? वे उन सभी चीजों को याद कर लेते हैं जो उन्हें कही जाती हैं। वे छात्र जो इस पद्धति को अपना लेते हैं उन्हें उच्च श्रेणी से नवाजा जाता है और ऐसे बच्चों को दूसरे छात्रों के समक्ष आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उन्हें अन्य गतिविधियों में हिस्सा लेने को कहा जाता है बिना यह जाने की उसके लायक उनमें योग्यता है भी या नहीं।

वास्तव में ऐसे भी बच्चे थे जो ज्ञान के इस स्वरूप के साथ नहीं चल पाते थे, इसमें उनकी गलती मान ली जाती थी और ऐसा उनके पारिवारिक पृष्ठभूमि और उनके अल्पज्ञान के कारण होता था। कक्षा में इन बच्चों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था और ऐसे छात्र बहुसंख्यक में होते थे। शिक्षक भी इस विषय में असहाय थे क्योंकि उन्हें इन बच्चों को सुधारने के लिए एक निश्चित दिशा निर्देश के अनुसार चलना होता था। इसलिए उन्होंने अपनी कक्षा के शैक्षिक स्तर को सुधारने के लिए तुलना करना और प्रतियोगिता कराना प्रारंभ किया। लेकिन इस पद्धति ने भी उन्हें दो वर्गों में विभाजित किया, योग्य और अयोग्य। बाद वाले वर्ग की अनदेखी की जाती

थी, जिससे कक्षा में उनकी सिर्फ दैहिक उपस्थिति भर रह जाती थी और पढ़ाई की प्रक्रिया से वो असंलग्न हो जाते थे (एक दृष्टि से, ये बच्चे संभवतः ज्यादा सौभाग्यशाली थे क्योंकि वे खुद जैसे होने के लिए स्वतंत्र थे। हालांकि ये सब कुछ नकारात्मक माहौल में ही था।)।

नैतिक शिक्षा की कक्षाएं छात्रों को विचारने का अवसर नहीं देती थीं; परन्तु उन्हें यह बता देती थीं कि क्या अच्छा है और क्या बुरा। साथ ही साथ उन्हें यह भी बताती थी कि उन्हें क्या करना चाहिए, इससे उनमें भय और दोषी होने की भावना भर जाती थी। कला और शिल्प जो कि सृजनात्मकता को व्यक्त करने का माध्यम थीं उन्हें मुख्य शिक्षा से अलग समझा जाता था। अतः न तो शिक्षक और न ही छात्र इस पर विशेष ध्यान देते थे।

एक वर्ग में चालीस से पचास छात्र होते थे और जबरदस्त व्यवस्थित पाठ्यक्रम के चलते शिक्षक के लिए प्रत्येक छात्र पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान दे पाना संभव नहीं था। सामूहिक पढ़ाई और आपसी सहयोग से छात्र अनभिज्ञ थे क्योंकि प्रतियोगात्मक शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। बच्चों को आगे की कक्षा में पहुंचा दिया जाता था। इनमें से अधिकांश बच्चों को न तो उन अवधारणाओं की समझ होती थी, जो उन्हें पढ़ाई गई थीं और न ही उन्हें उस का प्रयोगात्मक ज्ञान होता था। शिक्षा एक तरह से उन पर थोपी हुई वस्तु थी और स्कूल से निकलते ही वे इस शिक्षा को झाड़ कर अलग कर देते थे।

जब मैंने शिक्षक के रूप में कार्य प्रारंभ किया तो मैंने विद्यालयों में शिक्षा के इसी स्वरूप को देखा। यह सिर्फ एक विद्यालय की बात नहीं थी बल्कि विभिन्न स्तर के सभी विद्यालयों की यही हालत थी। शिक्षा का प्रारूप शायद भिन्न होता, अगर स्कूल के शिक्षकों को यह आभास होता कि यह विधि बच्चों की जरूरत और रुचियों के अनुकूल नहीं है। लेकिन इस बात पर बहस के लिए कि शिक्षा के स्तर को कैसे सुधारा जा सकता है अथवा विद्यार्थियों की जरूरत क्या है, किसी के पास समय नहीं था। इस विषय पर परिस्थिति में मैं दुःखी मन से यह सोचते हुए कार्य कर रही थी कि इस माहौल को बदला नहीं जा सकता लेकिन फिर भी मुझे कुछ खुशी थी कि इन विपरीत परिस्थितियों में भी मैं अपने छात्रों के साथ वास्तविक शिक्षा के लिए कुछ मौके हथिया ही लेती थी।

जमीनी सच्चाईयां

अपने कक्षा के अनुभव के आधार पर मैंने शिक्षा के तीन मुख्य उद्देश्यों को जाना-

पहला, शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो मनुष्य की

आन्तरिक सत्ता का बाह्य जगत के साथ तारतम्य बिठाती है तथा दोनों ही पक्षों में बदलाव भी लाती है।

हमारी बुद्धि हमारे अंतर जगत को बाह्य जगत से जोड़ते हुए कुछ अवधारणाएं गढ़ती है। यह प्रक्रिया सूचनाओं के संकलन, वर्गीकरण और उनके आपस में सामंजस्य बिठाने पर आधारित होती है। इसी कारण छोटे बच्चे अपने ऐन्द्रिक अनुभवों का संकलन, वर्गीकरण और उनके समूह बनाने में आनन्द का अनुभव करते हैं। इसके विकास के लिए उर्वर जमीन बाह्य जगत ही है। हमारी आन्तरिक सत्ता में हमारे विचार, भावनाएं, हमारी चेतना एवं हमारे गुण शामिल हैं और इन सभी में विकास और वृद्धि की क्षमतायें हैं।

हमारी दैहिक इन्द्रियों तथा बुद्धि का यह अन्तर्संबंध ही हमारे आन्तरिक 'स्व' का विकास करता है। अतः शिक्षा की प्रक्रिया, व्यक्तित्व निर्माण की नियमित प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में आन्तरिक 'स्व' हमारे व्यक्तित्व को निखारता है और व्यक्ति को लगता है कि जीवन का एक मकसद है और एक अर्थ है।

दूसरा, यह रचनात्मक प्रक्रिया हमारी शैक्षणिक व्यवस्था का हिस्सा नहीं है।

विद्यालय बच्चों के आन्तरिक विकास के लिए समय और स्थान उपलब्ध नहीं कराता है। वहां बच्चों के ऐसे मौके न के बराबर होते हैं जहां वे अपने इन्द्रियजन्य अनुभवों को समृद्ध कर सकें क्योंकि वहां अमूर्त चिन्हों पर आधारित शिक्षण कौशल पर बल दिया जाता है। साथ ही बाह्य जगत की बहुत-सी सूचनाओं को बच्चों के लिए महत्वपूर्ण माना गया है। यह जानकारी वयस्कों के द्वारा इकट्ठा की जाती हैं जो यह मानते हैं कि यही उन बच्चों के लिए महत्वपूर्ण हैं। इन्हें बच्चों की आवश्यकता, रुचि और प्रकृति के अनुसार नहीं चुना जाता है, बल्कि वयस्कों की संतुष्टि के अनुसार चुना जाता है।

भाषा, गणित, विज्ञान और इतिहास उनकी भलाई के लिए पढ़ाया जाता है। अगर कोई बच्चा निर्धारित नियमों के अनुकूल पढ़ता है तो शिक्षा का यह वर्तमान तंत्र उसे प्रतिष्ठा, उपहार एवं प्रमाणपत्र से पुरस्कृत करता है।

अतः हम कह सकते हैं कि विद्यालय एक ऐसा स्थान है जहां बच्चा कक्षा तथा मैदान में प्रथम स्थान प्राप्त कर सकता है। यह वह स्थान है जहां शिक्षक निर्विवाद रूप से सर्वेसर्वा है और जहां बच्चा अपने विषय में कुछ भी नहीं सोच सकता है।

विद्यालय वह स्थान है जहां छात्रों को सिखलाया जाता है कि किस तरह शांति के साथ सीधी पंक्ति बनाकर खड़ा रहा जाए तथा शान्तिपूर्वक कक्षा में प्रवेश किया जाए। इसी को अनुशासन

कहा जाता है। विद्यालय सिखलाता है कि बच्चे को जवाब देते वक्त खड़े हो जाना चाहिए। यह बड़ों को आदर देना माना जाता है। इन सबका नतीजा यह होता है कि बच्चा स्वतंत्र रूप से सोचना बन्द कर देता है और प्राथमिक कक्षा से लेकर उच्चतर कक्षाओं तक शिक्षक पर निर्भर हो जाता है। शायद बच्चों की यह निर्भरता एक असुरक्षित वयस्क को गहरी संतुष्टि प्रदान करती है। बच्चे इस वातावरण में अपने भीतर असंतुष्टि और तनाव पैदा कर लेते हैं। वे अपने ज्ञान और अन्य चीजों को दूसरे के साथ बांट नहीं पाते और वे छिपाऊ प्रवृत्ति के एवं अविश्वसनीय बन जाते हैं। अतः शिक्षा जहां एक स्वाभाविक प्रक्रिया होनी चाहिए वहीं विद्यालय के कारण एक बोझ बन जाती है।

इन सभी के बावजूद बीसवीं सदी में बच्चों को शिक्षा देने के स्वरूप में आमूल परिवर्तन किए गए हैं। भारत और विश्व के अन्य भागों में कई प्रयोग किये गये हैं। कई जगहों पर पढ़ाने की विधि का दूसरा विकल्प ढूंढा और प्रयोग में लाया गया तथा इसके सकारात्मक नतीजे भी आए हैं। वास्तव में भारत में वैकल्पिक शिक्षा के लिए एक बड़ा आन्दोलन 1970 के शुरूआती सालों में प्रारंभ हुआ लेकिन आज वास्तव में कुछ ही ऐसे विद्यालय हैं जो वैकल्पिक शिक्षा का प्रयोग कर रहे हैं। हम बच्चों को पुस्तकों से ज्ञानार्जन में लगे हुए ही देखते हैं। माता-पिता अपने बच्चों की शिक्षा के लिए एक बड़ी राशि प्रदान करते हैं तथा स्कूल के कर्मचारियों ने इसे आय का साधन बना रखा है। कुछ ऐसे अभिभावक हैं जो इस स्कूली शिक्षा के नुकसान को समझ रहे हैं लेकिन उन्हें कोई दूसरा विकल्प नहीं दिखाई देता।

शिक्षा के इस सैद्धांतिक स्वरूप के विकास का क्या फायदा? क्यों हमारे स्कूल में वास्तविक शिक्षा का विकास नहीं हो पा रहा है? इसका एक कारण हो सकता है कि वैकल्पिक शिक्षा की व्यवस्था अलग-थलग पड़ी हुई है। इनकी संख्या बहुत कम है और अल्पसंख्या में होने के कारण ये प्राचीन पद्धति को चलने दे रहे हैं। और इनसे मुझे शिक्षा के बारे में तीसरी सच्चाई का पता चला।

तीसरा, नये प्रारूप को प्रयोग में लाना कठिन है।

कक्षा एक चुनौती के समान है और यह बात कोई मायने नहीं रखती कि शिक्षक के तौर पर हम कितने पारंगत हैं। वे लोग जो छात्रों को शिक्षित करने का बीड़ा उठाते हैं उन्हें पहले खुद अपने

को शिक्षा से रू-बरू कराना होगा। जब तक हम यह नहीं करते, हम शिक्षा के वास्तविक अर्थ को नहीं समझ सकते। यह कई वयस्कों के लिए कठिन कार्य है। कुछ लोगों के लिए यह आश्चर्य की बात होगी कि फिर से पढ़ा और सोचा जाये। और अगर वे इस प्रक्रिया को अपनाते हैं तो क्या उनकी नौकरी बची रहेगी? कुछ ऐसे भी हैं जो सोचते हैं कि वो बहुत अच्छे ढंग से कार्य कर रहे हैं और इसमें परिवर्तन की कोई जरूरत नहीं है।

अगर हम बच्चों की आवश्यकता के अनुसार शिक्षा को पुनः परिभाषित करने की सोचें तो हम वर्तमान शिक्षा पद्धति की खामियों को चिन्हित कर पायेंगे और तभी हम अपने छात्रों को वास्तविक शिक्षा दे पायेंगे। शिक्षा के क्षेत्र में अपने अनुभवों के आधार पर मैं कह सकती हूँ कि यह संभव है कि हम अपनी एक सोच रचें और इस क्रम में शिक्षा के वर्तमान ढांचे की जकड़न को तोड़ना होगा। यह एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है जो दिनानुदिन चलती रहनी चाहिए।

अपने शिक्षण काल में मैंने अनुभव किया कि बच्चों के पास अपने नैसर्गिक विकास के लिए पढ़ाई के तरीके चुनने की क्षमता होती है। बच्चा खुद जानता है कि उसके विकास के लिए क्या आवश्यक है। यह भी सत्य है कि बच्चे अपने विकास के लिए वयस्कों के सहयोग की जरूरत महसूस करते हैं। आज जो शिक्षकों की परंपरागत भूमिका है उससे कहीं अलग उनकी भूमिका होनी चाहिए।

मैं शिक्षा के स्वरूप को बदलने पर इसलिए दृढ़ हूँ क्योंकि कक्षा में मैंने कई नए प्रयोग किए और उसके सकारात्मक निष्कर्ष मिले। लेकिन मैं बच्चे को आंतरिक सत्ता से मुखातिब होने में विश्वास की कमी महसूस करती हूँ। जिसके परिणामस्वरूप मेरे शिक्षण में सुधार के बावजूद वह रूखा और निर्जीव रहा। मैंने महसूस किया कि स्कूली शिक्षा और बच्चों का आन्तरिक विकास दो अलग-अलग क्षेत्र थे। उन्हें एक जगह लाना है। लेकिन प्रश्न यह था कि मैं इसे कैसे कर सकती थी?

शिक्षक के रूप में पहले वर्ष में मैंने समझा कि शिक्षा का दर्शन, शिक्षा मनोविज्ञान और पढ़ाने का तरीका ही मुझे अच्छा शिक्षक नहीं बना सकता। ये गुण मेरे जीवन का अंग बनेंगे तभी मैं शिक्षक के रूप में सही तरीके से कार्य कर सकूंगी। ◆

अनुवाद - ब्रजेश कुमार